



Original Article

21 वी सदी के हिंदी सिनेमा में स्त्री समस्याओं का सामाजिक चित्रण

प्रा. (डॉ.) संगीता सूर्यकांत चित्रकोटी

प्रोफेसर एवं शोध निर्देशक

को. ए. सो. लक्ष्मी-शालिनी महिला महाविद्यालय पेझारी, अलीबाग

Manuscript ID:

IJAAR-C130345

ISSN: 2347-7075

Impact Factor – 8.141

Volume - 13

Issue - 3

January – February 2026

Pp. 222 - 227

Submitted: 29 Jan.2026

Revised: 09 Feb. 2026

Accepted: 10 Feb. 2026

Published: 28 Feb. 2026

Corresponding Author:

प्रा. (डॉ.) संगीता सूर्यकांत चित्रकोटी

Quick Response Code:



Website: <https://ijaar.co.in/>



DOI: 10.5281/zenodo.22786175

DOI Link:

<https://doi.org/10.5281/zenodo.22786175>



Creative Commons



सार:

21वीं सदी के हिंदी सिनेमा में स्त्री समस्याओं का चित्रण केवल मनोरंजन का माध्यम नहीं रह गया है, बल्कि यह सामाजिक चेतना और परिवर्तन का प्रभावशाली उपकरण बनकर उभरा है। भारतीय सिनेमा के इतिहास में आरंभिक सामाजिक फिल्मों से लेकर समकालीन फिल्मों तक स्त्री की स्थिति, संघर्ष और अस्मिता के विविध रूप सामने आए हैं।

इस शोध में चयनित फिल्मों — क्वीन, पिंक, टॉयलेट: एक प्रेम कथा, थप्पड़, Mrs., तथा लापता लेडीज — के माध्यम से यह स्पष्ट किया गया है कि समकालीन हिंदी सिनेमा स्त्री की समस्याओं जैसे पितृसत्तात्मक सोच, घरेलू हिंसा, लैंगिक भेदभाव, सहमति का प्रश्न, स्त्री अस्मिता, घरेलू श्रम की अदृश्यता, और सामाजिक रूढ़ियों को संवेदनशीलता से प्रस्तुत करता है।

इन फिल्मों में स्त्री केवल सहनशील या निर्बल पात्र नहीं है, बल्कि आत्मनिर्भर, आत्मसम्मान और निर्णयक्षम व्यक्तित्व के रूप में सामने आती है। 'क्वीन' में आत्म-खोज, 'पिंक' में सहमति और न्याय, 'टॉयलेट: एक प्रेम कथा' में स्त्री गरिमा, 'थप्पड़' में आत्मसम्मान, 'Mrs.' में घरेलू श्रम की अदृश्यता और 'लापता लेडीज' में स्त्री पहचान और सामाजिक रूढ़ियों का चित्रण प्रभावी रूप में हुआ है।

इन फिल्मों के माध्यम से यह भी स्पष्ट होता है कि स्त्री समस्याएँ केवल व्यक्तिगत नहीं, बल्कि सामाजिक संरचना से जुड़ी हुई हैं। अतः समकालीन हिंदी सिनेमा समाज को आत्ममंथन के लिए प्रेरित करता है और स्त्री समानता की दिशा में सकारात्मक दृष्टि विकसित करने में सहायक सिद्ध होता है।

मुख्य शब्द: समकालीन हिंदी सिनेमा, स्त्री विमर्श, स्त्री समस्याएँ

Creative Commons (CC BY-NC-SA 4.0)

This is an open access journal, and articles are distributed under the terms of the Creative Commons Attribution-NonCommercial-ShareAlike 4.0 International License (CC BY-NC-SA 4.0), which permits others to remix, adapt, and build upon the work non-commercially, provided that appropriate credit is given and that any new creations are licensed under identical terms.

How to cite this article:

प्रा. (डॉ.) संगीता सूर्यकांत चित्रकोटी. (2026). 21 वी सदी के हिंदी सिनेमा में स्त्री समस्याओं का सामाजिक चित्रण. *International Journal of Advance and Applied Research*, 13(3), 222 - 227. <https://doi.org/10.5281/zenodo.22786175>

प्रस्तावना:

सिनेमा जीवन का दर्पण है, जिसमें समाज की वास्तविकताओं, संवेदनाओं और अंतर्विरोधों का सजीव प्रतिबिंब दिखाई देता है। भारतीय सिनेमा के प्रारंभिक दौर में धार्मिक एवं पौराणिक कथाओं पर आधारित मूक फिल्मों का

निर्माण हुआ। इसके बाद सामाजिक चेतना से जुड़ी फिल्मों की परंपरा विकसित हुई। इस दिशा में बाबुराव पेंटर द्वारा निर्मित पहली सामाजिक फिल्म 'सावकारी पाश' उल्लेखनीय है, जिसमें एक किसान की भूमि साहूकार द्वारा हड़प लिए जाने



और उसकी विवशता में मुंबई आकर मजदूर का जीवन जीने की कथा प्रस्तुत की गई है।

इसके पश्चात ‘अछूत कन्या’, ‘पुकार’, ‘रोटी’ जैसी अनेक फिल्मों ने भारतीय समाज में व्याप्त सामाजिक विसंगतियों को उजागर किया। स्वतंत्रता के बाद सिनेमा में सामाजिक विषयों के साथ-साथ राजनीति और राष्ट्रप्रेम का समावेश हुआ। इस दौर में सत्यजित राय, ऋषिकेश मुखर्जी, राज कपूर, मृणाल सेन, राजा परांजपे जैसे फिल्मकारों ने समाज की बदलती परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए सशक्त फिल्मों बनाई। ‘जागते रहो’, ‘दो बीघा ज़मीन’, ‘मदर इंडिया’, ‘आवारा’ जैसी फिल्मों में आम जनजीवन की पीड़ा, संघर्ष और सपनों को प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत किया गया।

स्वतंत्रता के बाद भारतीय समाज ने जिन स्वप्नों को देखा था, वे अनेक कारणों से टूटते चले गए। परिणामस्वरूप मोहभंग, असफलता, गरीबी, भ्रष्टाचार, सांप्रदायिकता और आतंकवाद जैसी समस्याएँ सिनेमा के प्रमुख विषय बने। ‘अंकुर’, ‘आक्रोश’, ‘सद्गति’, ‘रोटी’ जैसी फिल्मों ने इन मुद्दों को यथार्थवादी दृष्टि से चित्रित किया।

आगे चलकर भारतीय सिनेमा में स्त्री विषयक दृष्टिकोण में भी महत्वपूर्ण परिवर्तन देखने को मिला। एक ओर स्त्री की सामाजिक स्थिति, उसकी अस्मिता, संघर्ष और विद्रोह को केंद्र में रखकर कई सशक्त फिल्में बनीं। ‘अभिमान’, ‘निकाह’, ‘दामिनी’, ‘बैडिट क्वीन’ जैसी फिल्मों ने स्त्री की दशा, शोषण और उसके प्रतिरोध को प्रभावी ढंग से प्रस्तुत किया। दूसरी ओर समकालीन हिंदी सिनेमा और विज्ञापन जगत में स्त्री-देह के बाजारीकरण की प्रवृत्ति स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है, जहाँ स्त्री की उपस्थिति को प्रायः उसके शारीरिक आकर्षण और दृश्यात्मक प्रदर्शन तक सीमित कर दिया जाता है; वहीं दूसरी ओर हिंदी सिनेमा के इतिहास में ऐसे उदाहरण भी

विद्यमान हैं जो स्त्री की गरिमा, आत्मनिर्णय और कलात्मक प्रतिबद्धता को रेखांकित करते हैं। इस संदर्भ में सरोज देवी का उदाहरण उल्लेखनीय है। एक फिल्म में उनसे बिना बाँहों का परिधान धारण करने का आग्रह किया गया, किंतु उन्होंने यह कहते हुए असहमति व्यक्त की कि – “ नग्नता अभिनय नहीं होता। मेरी नंगी बाँहें अभिनय नहीं करेगी। अभिनय तो आंखें और हावभाव कराते हैं तथापि शालीनता वस्त्रों में होती है। ” –

1

यह प्रसंग इस तथ्य को उद्धाटित करता है कि स्त्री केवल दृश्य-उपभोग की वस्तु नहीं, अपितु एक सजग और आत्मसम्मानपूर्ण व्यक्तित्व है, जो अपनी गरिमा और कलात्मक मर्यादा के प्रति सचेत रह सकती है। इसी संदर्भ में चित्रा मुद्गल कहती है – “ स्त्री मुक्ति की मेरी परिभाषा उसके मस्तिष्क से जुड़ी है। मेरी दृष्टि में स्त्री की मुक्ति तभी संभव है जब उसे देह से नहीं मस्तिष्क से पहचानी जाएगी। ” – 2

अतः हिंदी सिनेमा में स्त्री-चित्रण का विमर्श केवल शोषण और वस्तुकरण तक सीमित नहीं है, बल्कि उसमें प्रतिरोध, आत्मसंरक्षण और वैचारिक स्वायत्तता के उदाहरण भी समान रूप से विद्यमान हैं।

आज हम सूचना और प्रौद्योगिकी के युग में जी रहे हैं, किंतु इसके बावजूद स्त्री से जुड़ी अनेक समस्याएँ समाज में आज भी विद्यमान हैं। समाज में शिक्षा का स्तर बढ़ा है, फिर भी दकियानूसी सोच और पितृसत्तात्मक मानसिकता पूरी तरह समाप्त नहीं हो सकी है। इन्हीं ज्वलंत स्त्री-समस्याओं को केंद्र में रखकर 21वीं सदी के हिंदी सिनेमा में कई महत्वपूर्ण फिल्मों निर्मित हुई हैं, जो स्त्री की पीड़ा, संघर्ष और आत्मसम्मान को संवेदनशीलता के साथ प्रस्तुत करती हैं। ऐसी ही कुछ फिल्मों ने मेरे हृदय को विशेष रूप से स्पर्श किया है, जिनके सामाजिक चित्रण का अध्ययन इस शोध-विषय के अंतर्गत किया गया है।



विकास बहल निर्देशित ‘क्वीन’ (2013) आत्म-खोज की यात्रा पर आधारित फिल्म है। रानी मेहरा एक साधारण, संस्कारी युवती है, जिसकी शादी अचानक टूट जाती है। उसका मंगेतर विजय कहता है— “तू मेरी लाइफस्टाइल में फिट नहीं बैठती।” यह वाक्य रानी के आत्मविश्वास को तोड़ देता है। वह स्वयं को दोषी मानने लगती है। किंतु अकेले हनीमून पर जाना उसका जीवन बदल देता है। है। पेरिस और एम्स्टर्डम की यात्रा में वह नए लोगों से मिलती है। अलग-अलग संस्कृतियों को समझती है। वह अपने डर से बाहर निकलती है। स्वयं को पहचानती है और आत्मनिर्भर बनती है। यात्रा के अंत तक वह एक नई रानी (‘क्वीन’) बन जाती है — आत्मविश्वासी, स्वतंत्र और स्वाभिमानी। अंत में जब विजय वापस लौटता है, तो रानी शांत स्वर में कहती है—“अब मुझे किसी की ज़रूरत नहीं, मैं खुद में खुश हूँ।” यह संवाद स्त्री की आत्मनिर्भरता का प्रतीक बन जाता है। क्वीन बताती है कि “मेरा मूल्य मैं खुद तय करूंगी।”, स्त्री की मुक्ति बाहर नहीं, भीतर से शुरू होती है।

‘पिक’ (2016) अनिरुद्ध रॉय चौधरी द्वारा निर्देशित एक सामाजिक-कानूनी थ्रिलर फिल्म है, जो आधुनिक भारतीय समाज में स्त्री की सहमति, समानता और सामाजिक भेदभाव जैसे गंभीर विषयों को प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत करती है। फिल्म की मुख्य पात्र मीना (मीनल) धोंगड़ी (तापसी पन्नू), फलक अली (कृति कुल्हारी) और एंड्रिया तारंग (एंड्रिया तारंग) हैं। इनके साथ वकील दीपक सहगल की भूमिका में अमिताभ बच्चन एक महत्वपूर्ण किरदार निभाते हैं।

फिल्म की कहानी तीन स्वतंत्र और आत्मनिर्भर युवतियों के इर्द-गिर्द घूमती है, जो केवल इसलिए समाज के संदेह और आरोपों का सामना करती हैं क्योंकि वे अपनी शर्तों पर जीवन जीती हैं। उनके पहनावे, मित्रता, पार्टी में जाने और ड्रिंक लेने को उनके चरित्र से जोड़कर देखा जाता है। यह फिल्म

समाज की उस मानसिकता को उजागर करती है, जहाँ पुरुषों के व्यवहार को सामान्य माना जाता है, जबकि महिलाओं के उसी व्यवहार को नैतिकता के पैमाने पर परखा जाता है।

कोर्ट सीन में वकील दीपक सहगल इस दोहरे मापदंड को चुनौती देते हुए कहते हैं— “शराब को यहाँ सिर्फ महिलाओं के चरित्र का संकेत क्यों माना जाता है? लड़कों के लिए यह सिर्फ स्वास्थ्य जोखिम है!” यह संवाद स्पष्ट करता है कि समाज शराब, कपड़ों या जीवनशैली को लेकर महिलाओं को ही दोषी ठहराता है।

एक अन्य महत्वपूर्ण तर्क में वे कहते हैं— “जो लड़कियाँ पार्टी में जाती हैं और ड्रिंक लेती हैं, वह आपके लिए ‘available’ का संकेत नहीं बनती। उपलब्धता का कोई बोर्ड उनके लिए नहीं लगाया जाता।” यह संवाद उस सोच पर करारा प्रहार है, जो महिलाओं की स्वतंत्रता को उनकी ‘उपलब्धता’ से जोड़कर देखती है।

फिल्म का सबसे सशक्त संदेश अदालत में गूँजता है— “No means No.” यह संवाद स्त्री की सहमति और आत्मसम्मान का प्रतीक बन जाता है। इसका अर्थ स्पष्ट है कि स्त्री की ‘ना’ किसी भी परिस्थिति में ‘ना’ ही होती है। उसे अपनी मर्यादा या चरित्र सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है, बल्कि समाज को अपनी सोच बदलने की आवश्यकता है।

इस प्रकार ‘पिक’ केवल एक फिल्म नहीं, बल्कि सामाजिक चेतना का संदेश है, जो दर्शकों को स्त्री सम्मान और सहमति के महत्व को समझने के लिए प्रेरित करती है।

2017 में प्रदर्शित ‘टॉयलेट: एक प्रेम कथा’ स्त्री गरिमा और सामाजिक दोहरेपन को उजागर करने वाली एक महत्वपूर्ण फिल्म है। फिल्म के मुख्य पात्र केशव शर्मा (अक्षय कुमार) और जया जोशी (भूमि पेडनेकर) हैं। केशव और जया का विवाह होता है, किंतु विवाह के बाद जया को यह ज्ञात



होता है कि उसके ससुराल में शौचालय नहीं है। शौचालय के अभाव में उसे खुले में शौच के लिए जाना पड़ता है, जो उसके लिए अत्यंत अपमानजनक और असुरक्षित स्थिति उत्पन्न करता है। इस समस्या से आहत होकर वह ससुराल छोड़ देती है। इसके बाद केशव समाज और अपने परिवार की रूढ़ियों से संघर्ष करता है तथा अंततः शौचालय बनवाकर जया की गरिमा और अधिकार की रक्षा करता है।

फिल्म में खुले में शौच का दृश्य केवल स्वच्छता की समस्या तक सीमित नहीं रहता, बल्कि वह समाज की दोहरी नैतिकता का प्रतीक बन जाता है। एक ओर ग्रामीण परिवेश में स्त्री से अपेक्षा की जाती है कि वह घर के भीतर घूंघट में रहे, बड़ों के सामने सिर झुकाकर तथाकथित 'मर्यादा' का पालन करे; दूसरी ओर वही समाज उसे खुले में शौच करने के लिए विवश करता है, जहाँ उसकी देह और निजता सार्वजनिक दृष्टि के सामने असुरक्षित हो जाती है।

यह विरोधाभास स्त्री की सामाजिक स्थिति को स्पष्ट करता है। घूंघट की परंपरा स्त्री के व्यक्तित्व और स्वतंत्रता पर नियंत्रण का माध्यम बन जाती है, किंतु उसकी सुरक्षा और सम्मान की वास्तविक चिंता नहीं की जाती। खुले में शौच के दौरान पुरुषों और परिवार के बुजुर्गों का आना-जाना उसकी निजता पर आघात करता है, फिर भी इसे समस्या नहीं माना जाता।

इस प्रकार फिल्म यह संदेश देती है कि पितृसत्तात्मक समाज स्त्री के शरीर पर नियंत्रण तो स्थापित करना चाहता है, किंतु उसकी बुनियादी आवश्यकताओं और मानवीय गरिमा के प्रति संवेदनशील नहीं होता। स्त्री की चुप्पी, उसकी विवशता और सहनशीलता को 'संस्कार' और 'परंपरा' के नाम पर उचित ठहरा दिया जाता है, जबकि वास्तव में यह सामाजिक हिंसा का ही एक रूप है।

इस दृष्टि से 'टॉयलेट: एक प्रेम कथा' केवल स्वच्छता अभियान पर आधारित फिल्म नहीं, बल्कि स्त्री अस्मिता, सम्मान और आत्मनिर्णय के प्रश्न को प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत करने वाली सामाजिक फिल्म है।

'थप्पड़' (2020) अनुभव सिन्हा द्वारा निर्देशित एक सामाजिक-यथार्थवादी फिल्म है, जो विवाह संस्था के भीतर छिपी लैंगिक असमानता और स्त्री-स्वाभिमान के प्रश्न को केंद्र में रखती है।

फिल्म की नायिका अमृता (तापसी पन्नू) एक शिक्षित, संवेदनशील और समर्पित गृहिणी है। उसका जीवन अपने पति विक्रम (पावेल गुलाटी) और परिवार की देखभाल में बीतता है। अमृता ने अपने करियर और व्यक्तिगत आकांक्षाओं को पीछे छोड़कर पति के सपनों को प्राथमिकता दी है। वैसे भी हमारे समाज में विवाह में स्त्री से अपेक्षा की जाती है कि वह समझौता करे, सहन करे और परिवार को बचाने के लिए अपने स्वाभिमान को त्याग दे। अमृता ने भी अपने सपनों का त्याग किया था, जिसे समाज स्वाभाविक मानता है।

एक दिन विक्रम के प्रमोशन न मिलने की निराशा और क्रोध के बीच एक पार्टी में वह सबके सामने अमृता को थप्पड़ मार देता है। यह घटना क्षणिक प्रतीत होती है, परंतु अमृता के भीतर गहरा आघात छोड़ जाती है। परिवार और समाज इसे "छोटी-सी बात" कहकर नजरअंदाज करने की सलाह देते हैं— "बस एक थप्पड़ ही तो था।"

किन्तु अमृता के लिए यह केवल एक थप्पड़ नहीं, बल्कि उसके आत्मसम्मान पर प्रहार है। वह इस अपमान को स्वीकार नहीं करती और तलाक का निर्णय लेती है। पूरी कथा इसी निर्णय के इर्द-गिर्द आगे बढ़ती है, जहाँ अमृता अपने अस्तित्व, गरिमा और आत्मसम्मान के लिए खड़ी होती है।



अर्थात अमृता का तलाक अंत नहीं, बल्कि उसकी स्वतंत्र पहचान की शुरुआत है।

‘Mrs.’ 2023 की हिंदी फिल्म है, जो मलयालम फिल्म “*The Great Indian Kitchen*” का रूपांतरण है। फिल्म ‘Mrs.’ समकालीन हिंदी सिनेमा में स्त्री जीवन की मौन पीड़ा और अदृश्य शोषण का अत्यंत संवेदनशील चित्रण प्रस्तुत करती है। इस फिल्म की नायिका ऋचा घरेलू जीवन में पूर्ण समर्पण के साथ अपने कर्तव्यों का निर्वहन करती है। वह पत्नी, बहू और गृहिणी के रूप में परिवार की सभी अपेक्षाओं को पूरा करने का प्रयास करती है, किंतु बदले में उसे सम्मान, संवेदना और आत्मिक सहयोग प्राप्त नहीं होता। उसका अस्तित्व केवल सेवा तक सीमित कर दिया जाता है।

फिल्म का सबसे मार्मिक पक्ष यह है कि नायिका के संघर्ष और त्याग को कभी गंभीरता से नहीं लिया जाता। पति और ससुराल पक्ष उसकी भावनाओं, इच्छाओं और प्रतिभा के प्रति उदासीन बने रहते हैं। धीरे-धीरे यह उपेक्षा उसकी सहनशक्ति को तोड़ देती है। जब ऋचा वह गंदा पानी ससुर पर फेंकती है, तो वह दरअसल कह रही होती है कि “यह गंदगी मेरी नहीं, इस सोच की है।” और वह आत्मसम्मान की रक्षा हेतु घर त्यागने का निर्णय लेती है। यह निर्णय उसके आत्मबोध और आत्मनिर्णय का प्रतीक बन जाता है।

हालाँकि फिल्म यहीं समाप्त नहीं होती, बल्कि एक गहरे सामाजिक यथार्थ की ओर संकेत करती है। नायिका के चले जाने के बाद भी पति और ससुर की मानसिकता में कोई परिवर्तन नहीं आता। वे आत्ममंथन करने के बजाय पुनः विवाह कर उसी पितृसत्तात्मक ढाँचे को बनाए रखने का प्रयास करते हैं। नई पत्नी से भी वही अपेक्षाएँ की जाती हैं, वही भूमिकाएँ थोपी जाती हैं और वही सीमाएँ निर्धारित की जाती हैं। इस

प्रकार एक स्त्री के मुक्त होने के साथ ही दूसरी स्त्री उसी व्यवस्था की बलि चढ़ जाती है।

यह स्थिति यह स्पष्ट करती है कि समस्या केवल किसी एक व्यक्ति से संबंधित नहीं है, बल्कि यह सामाजिक संरचना और मानसिकता में गहराई से निहित है। जब तक सोच नहीं बदलती, तब तक चेहरे बदलते रहेंगे, पर शोषण का स्वरूप वही रहेगा। फिल्म इस माध्यम से यह प्रश्न उठाती है कि क्या स्त्री की मुक्ति केवल व्यक्तिगत स्तर पर संभव है, या इसके लिए सामाजिक परिवर्तन भी आवश्यक है।

‘Mrs.’ यह संदेश देती है कि वास्तविक परिवर्तन तभी संभव है जब परिवार और समाज स्त्री को एक स्वतंत्र, सम्मानित और संवेदनशील मानव के रूप में स्वीकार करें। केवल एक स्त्री का साहसिक कदम व्यवस्था को नहीं बदल सकता, जब तक पुरुष और समाज अपनी सोच में परिवर्तन न लाएँ। इस दृष्टि से यह फिल्म स्त्री विमर्श का एक महत्वपूर्ण और यथार्थवादी दस्तावेज बन जाती है। Mrs.’ में नायिका की मुक्ति के साथ-साथ एक नई स्त्री का उसी व्यवस्था में प्रवेश करना यह दर्शाता है कि समस्या व्यक्ति-स्तर पर नहीं, बल्कि सामाजिक संरचना में निहित है। पति और ससुर का अपरिवर्तित रहना पितृसत्तात्मक सोच की जड़ता को उजागर करता है। इस प्रकार एक स्त्री के मुक्त होने के साथ दूसरी स्त्री का शोषण आरंभ होना सामाजिक विडंबना का सशक्त उदाहरण बन जाता है।

किरण राव द्वारा निर्देशित ‘लापता लेडीज़’ 2024 में प्रदर्शित हुई। यह एक ऐसी फिल्म है, जो ग्रामीण भारत के सामाजिक और लैंगिक मुद्दों को हल्के-फुल्के ढंग से लेकिन सूक्ष्मता के साथ प्रस्तुत करती है। फिल्म की कहानी दो नव-विवाहित दुल्हनों फूल कुमारी (नितांशी गोयल), और जया (प्रतीक्षा चौहान) के इर्द-गिर्द घूमती है। दोनों अपनी शादी के बाद अपने ससुरालों को जाने के लिए ट्रेन में चढ़ती हैं, जहाँ



गलती से उनके घूँघट पहने होने की वजह से उनकी पहचान में भ्रम हो जाता है और वे एक-दूसरे के घर पहुँच जाती हैं।

इस फिल्म में घूँघट केवल एक परंपरा नहीं, बल्कि स्त्री की पहचान पर पड़ा हुआ एक प्रतीकात्मक पर्दा बनकर सामने आता है। ट्रेन में घूँघट की वजह से दो दुल्हनों की अदला-बदली हो जाना केवल कथानक की घटना नहीं, बल्कि यह उस सामाजिक सच्चाई का संकेत है जहाँ स्त्री का चेहरा, उसका नाम, उसकी इच्छा सब कुछ गौण कर दिया जाता है। वह व्यक्ति नहीं, केवल “दुल्हन” बनकर रह जाती है। फुल इस परंपरा की शिकार स्त्री का प्रतिनिधित्व करती है। घूँघट में ढँकी हुई वह अपनी पहचान खो देती है और गलत घर पहुँच जाती है। जब सच सामने आता है तो असुरक्षा और भय में वह रेलवे स्टेशन पर शरण लेती है। स्टेशन पर उसका अकेलापन इस बात का प्रतीक है कि जब समाज स्त्री को पहचान नहीं देता, तो वह भीड़ में भी अकेली रह जाती है।

इसके विपरीत जया घूँघट के भीतर कैद चेतना का विरोध करती है। वह शिक्षित है, सजग है और अपने जीवन का निर्णय स्वयं लेना चाहती है। गलत घर पहुँचने के बाद वह परिस्थिति से समझौता नहीं करती, बल्कि साहसपूर्वक वहाँ से निकल जाती है। वह घूँघट हटाकर अपनी राह चुनती है। जया का घर छोड़ना पलायन नहीं, बल्कि आत्मनिर्णय का उद्घोष है।

इस प्रकार फिल्म यह स्पष्ट करती है कि घूँघट केवल परंपरा का प्रतीक नहीं, बल्कि स्त्री की अस्मिता पर नियंत्रण का माध्यम भी है। जब स्त्री घूँघट हटाती है, तो वह केवल चेहरा नहीं दिखाती, वह अपनी पहचान, अपनी इच्छा और अपना अस्तित्व प्रकट करती है।

निष्कर्ष:

समकालीन हिंदी सिनेमा में स्त्री समस्याओं का चित्रण सशक्त और संवेदनशील रूप में हुआ है। चयनित फिल्मों के माध्यम से यह स्पष्ट होता है कि स्त्री अब केवल सहनशील पात्र नहीं, बल्कि संघर्षशील और आत्मनिर्भर व्यक्तित्व के रूप में उभर रही है। ये फिल्में समाज को आत्ममंथन के लिए प्रेरित करती हैं और स्त्री समानता की दिशा में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं।

आलोच्य फिल्में / Filmography:

1. बहल, विकास (निर्देशक). क्वीन. हिंदी फिल्म, 2014.
2. रॉय चौधरी, अनिरुद्ध (निर्देशक). पिक. हिंदी फिल्म, 2016.
3. श्री सिंह नारायण (निर्देशक), ‘टॉयलेट: एक प्रेम कथा’ 2017
4. कडव, आरती (निर्देशक). मिसेज (Mrs.). हिंदी फिल्म, 2023.
5. राव, किरण (निर्देशक). लापता लेडीज. हिंदी फिल्म, 2024.

संदर्भ ग्रंथ:

1. दिलचस्प, हिंदी सिनेमा के सौ वर्ष, भारतीय पुस्तक परिषद, नई दिल्ली, सं 2009, पृष्ठ – 25
2. डॉ. खान शमा, विज्ञापन एवं मीडिया में नारी की छवि, राज पब्लिशिंग हाउस, जयपुर, सं 2011, पृष्ठ- 24